सबद
पीयर-रिव्यूड त्रैमासिक शोध पत्रिका
वर्ष- 1, अंक- 2 (अप्रैल–जून 2026)
ISSN: 3139-5317 (Online), 3139-5325 (Print)

सूरदास के काव्य में बाल-कृष्ण का चित्रण

कृष्णा यादव
एम. ए. हिंदी विभाग, ईश्वर शरण डिग्री कॉलेज प्रयागराज, उत्तर प्रदेश

सारांश

सूरदास के काव्य में बाल-कृष्ण का चित्रण हिंदी भक्ति-काव्य की उन महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों में है जहाँ ईश्वर का अलौकिक रूप पारिवारिक निकटता, मातृ-स्नेह और सहज बाल-व्यवहार के भीतर मूर्त हो उठता है। प्रस्तुत आलेख का केंद्रीय प्रश्न यह है कि सूरदास बाल-कृष्ण को केवल आराध्य देव के रूप में चित्रित करते हैं अथवा उनके माध्यम से बाल-मन, मातृत्व और घरेलू जीवन की ऐसी अनुभूतियों को भी अभिव्यक्ति देते हैं जो व्यापक मानवीय अर्थ ग्रहण करती हैं। 'सूरसागर' के विभिन्न बाल-लीला पदों के आधार पर कृष्ण के शैशव, घुटनों चलने, बोलने की प्रतीक्षा, चलना सीखने, हठ करने, स्पर्धा करने और बलराम से शिकायत करने जैसी अवस्थाओं का विश्लेषण किया गया है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि सूर का वैशिष्ट्य चमत्कारपूर्ण कृष्ण-कथा की अपेक्षा सामान्य बाल-चेष्टाओं के सूक्ष्म निरीक्षण में अधिक दिखाई देता है। ब्रजभाषा की संवादधर्मिता, दृश्यात्मकता और घरेलू वातावरण इन चित्रों को जीवंत बनाते हैं। यद्यपि यह संसार आदर्शीकृत और कृष्ण-केंद्रित है, फिर भी मातृत्व और बाल-मनोविज्ञान की उसकी पहचान आज भी अत्यंत प्रासंगिक है।

बीज शब्द: सूरदास, बाल-कृष्ण, वात्सल्य, बाल-मनोविज्ञान, यशोदा, सूरसागर, ब्रजभाषा।

मुख्य आलेख

सूरदास के बाल-कृष्ण संबंधी काव्य की केंद्रीय विशेषता यह है कि उसमें ईश्वर की विराटता बालक की लघु देह और सामान्य घरेलू व्यवहार के भीतर समा जाती है। कृष्ण यहाँ केवल अवतारी पुरुष नहीं हैं; वे ऐसे शिशु हैं जिन्हें सुलाने के लिए माँ को लोरी गानी पड़ती है, जिनके दाँत निकलने की प्रतीक्षा होती है, जो घुटनों के बल चलते हुए धूल में भर जाते हैं और जिन्हें चंद्रमा भी खिलौना दिखाई देता है। इसलिए सूर के बाल-वर्णन का महत्त्व केवल भक्तिभाव में नहीं, उस दृष्टि में भी है जो बालक के विकास की छोटी-से-छोटी घटना को अर्थवान बनाती है। प्रश्न यह है कि सूरदास ने पौराणिक कृष्ण को इतना परिचित और घरेलू कैसे बना दिया कि पाठक उनके देवत्व को जानते हुए भी उन्हें पहले एक जीवंत बालक के रूप में अनुभव करता है। इसका उत्तर उनके काव्य में उपस्थित वात्सल्य, सूक्ष्म निरीक्षण और संवादप्रधान घरेलू संसार में मिलता है। शिशु कृष्ण का प्रारंभिक संसार पालने और माता की गोद से निर्मित होता है। यशोदा के लिए निद्रा भी कोई अमूर्त प्राकृतिक क्रिया नहीं, बल्कि वह मानो ऐसी परिचित स्त्री है जिसे पुत्र के पास बुलाया जा सकता है—

"जसोदा हरि पालना झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ सोइ कछु गावै।"[1]

इन पंक्तियों में क्रियाओं की श्रृंखला—झुलाना, हलराना, दुलारना और गाना—मातृत्व को स्थिर भाव न रहने देकर जीवित व्यवहार में बदल देती है। यशोदा का प्रेम किसी धार्मिक उपदेश से व्यक्त नहीं होता; वह शरीर और दिनचर्या के माध्यम से सामने आता है। इस दृश्य में कृष्ण की दिव्यता लगभग पृष्ठभूमि में चली जाती है और सामने रह जाता है

माँ तथा शिशु का निकट संबंध। यही सूर की काव्य-दृष्टि का निर्णायक बिंदु है। भक्त जिस ईश्वर तक पहुँचना चाहता है, वही ईश्वर यहाँ माँ के हाथों पर पूर्णतः आश्रित दिखाई देता है। निर्भरता और दिव्यता का यह विरोधाभास वात्सल्य-भक्ति को विशेष मार्मिकता प्रदान करता है। माता का वात्सल्य केवल वर्तमान शिशु को देखकर संतुष्ट नहीं रहता; वह उसके विकास की अगली अवस्थाओं की प्रतीक्षा भी करता है। सूरदास इस प्रतीक्षा को अत्यंत स्वाभाविक रूप देते हैं—

"जसुमति मन अभिलाष करै।
कब मेरो लाल घुटुरुवनि रेंगे, कब धरनि पग द्वै धरै।
कब द्वै दाँत दूध के देखौं, कब तोतरे मुख बचन झरै।
कब नंदहि बाबा कहि बोले।"[2]

यहाँ मातृत्व भविष्य की छोटी-छोटी संभावनाओं से अपना आनंद निर्मित करता है। कृष्ण कब घुटनों चलेंगे, कब उनके दूध के दाँत दिखाई देंगे, कब वे तोतली भाषा बोलेंगे—यशोदा के लिए प्रत्येक अवस्था उपलब्धि है। सूरदास माता की दृष्टि को इतनी निकटता से ग्रहण करते हैं कि बाल-विकास किसी बाहरी वर्णन के बजाय प्रतीक्षा की भावात्मक प्रक्रिया बन जाता है। कवि केवल यह नहीं कहता कि कृष्ण बड़े हो रहे हैं; वह दिखाता है कि किसी बच्चे का बड़ा होना उसके परिवार, विशेषकर माता, के लिए किस प्रकार निरंतर आशा और उल्लास का विषय होता है।

इसी कारण सूरदास के यहाँ वात्सल्य एकतरफा स्नेह नहीं है। शिशु की प्रत्येक नई चेष्टा माता को बदलती है और माता की प्रतिक्रिया बालक के व्यक्तित्व को उभारती है। बालक और माता के बीच यह परस्परता सूर के कृष्ण को स्थिर धार्मिक प्रतीक बनने से रोकती है। यशोदा कभी उन्हें निहारती हैं, कभी रोकती हैं, कभी समझाती हैं, कभी उनकी बातों से हँसती हैं और कभी उनके हठ के सामने उपाय खोजती हैं। इस घरेलू व्यवहार से ही सूर का वृंदावन और गोकुल भावात्मक विश्वसनीयता प्राप्त करता है।

सूरदास की दृष्टि की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता बाल-देह की गतिशीलता है। उनका बालक किसी सुंदर चित्र की तरह स्थिर नहीं रहता। वह घुटनों चलता है, गिरता है, उठता है, प्रतिबिंब पकड़ने दौड़ता है और अपनी देह पर लगी धूल से अनभिज्ञ रहता है। कृष्ण के घुटनों चलते रूप का प्रसिद्ध चित्र इसी कारण केवल रूप-सौंदर्य का वर्णन नहीं रह जाता—

"सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुनि चलत रेनु-तन-मंडित, मुख-दधि लेप किए।
चारु कपोल, लोल लोचन, गोरोचन-तिलक दिए।"[3]

मक्खन लिए कृष्ण के हाथ, धूल से सना शरीर और मुख पर लगा दही बालक की अव्यवस्थित किंतु आनंदपूर्ण दुनिया का निर्माण करते हैं। परंपरागत देवमूर्ति सामान्यतः निर्मल और सुव्यवस्थित होती है; सूर का ईश्वर धूल और दही से सना है। यहीं उनका सौंदर्यबोध विशिष्ट हो जाता है। कृष्ण सुंदर इसलिए नहीं हैं कि वे सांसारिक स्पर्श से परे हैं, बल्कि इसलिए कि वे सांसारिक जीवन में पूरी तरह उतर आए हैं। 'रेनु-तन-मंडित' में धूल भी आभूषण का कार्य करने लगती है। इस प्रकार घरेलू यथार्थ और आध्यात्मिक सौंदर्य परस्पर विरोधी न रहकर एक-दूसरे को अर्थ प्रदान करते हैं। बाल-मनोविज्ञान की दृष्टि से और सूक्ष्म दृश्य तब उपस्थित होता है जब कृष्ण अपने प्रतिबिंब को दूसरा बालक समझकर पकड़ना चाहते हैं—

"किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत।

वर्ष- 1, अंक- 2 (अप्रैल–जून 2026)
ISSN: 3139-5317 (Online), 3139-5325 (Print)

मणिमय कनक नंद के आँगन, बिंब पकरिबै धावत।
कबहुँ निरखि हरि आपु छाँह कौ, कर सों पकरन चाहत।
किलकि हँसत राजत द्वै दंतियाँ।"[4]

यह प्रसंग बालक की उस अवस्था को पहचानता है जिसमें स्वयं और अपने प्रतिबिंब के बीच का भेद अभी बौद्धिक रूप से स्पष्ट नहीं होता। सूर इस व्यवहार की व्याख्या किसी सिद्धांत के सहारे नहीं करते; वे केवल सही चेष्टा चुनते हैं और उसे दृश्य में बदल देते हैं। प्रतिबिंब पकड़ने के लिए बढ़ता हाथ, घुटनों की गति और बीच-बीच में हँसना—इन क्रियाओं के द्वारा बाल-मन की जिज्ञासा प्रकट होती है। यहाँ कल्पना की सफलता का आधार जीवन का निरीक्षण है। कृष्ण की अलौकिक पहचान पाठक को ज्ञात है, लेकिन दृश्य की शक्ति इसी तथ्य में है कि सर्वज्ञ माने जाने वाले भगवान अपने ही प्रतिबिंब को पहचान नहीं रहे। भक्तिकाव्य में यह विरोधाभास दूरी नहीं, आत्मीयता उत्पन्न करता है। इसी विकास-क्रम में चलना सीखने का प्रसंग आता है—

"सिखवति चलन जसोदा मैया।
अरबराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरे पैया।"[5]

इन दो पंक्तियों में बालक की शारीरिक अस्थिरता और माता का सहारा साथ-साथ चित्रित हैं। 'अरबराइ' और 'डगमगाइ' जैसे शब्द अर्थ के अतिरिक्त गति का भी अनुभव कराते हैं। भाषा स्वयं असंतुलित कदमों की लय ग्रहण करती प्रतीत होती है। यशोदा केवल दर्शक नहीं हैं; उनका हाथ कृष्ण के सीखने की प्रक्रिया का अंग बन जाता है। यह प्रसंग मातृत्व को संरक्षण के साथ-साथ आत्मनिर्भरता की ओर ले जाने वाले सहयोग के रूप में भी दिखाता है। बच्चा कदम स्वयं रखता है, लेकिन आरंभ में किसी विश्वस्त हाथ की आवश्यकता होती है—इस सहज मानवीय तथ्य को सूर अत्यल्प शब्दों में पकड़ते हैं।

बालक का विकास केवल देह में नहीं, आत्मबोध और तुलना की प्रवृत्ति में भी दिखाई देता है। दूध पीते-पीते कृष्ण को बताया गया है कि इससे उनकी चोटी बलराम की तरह लंबी होगी। कुछ समय बाद वे परिणाम का हिसाब माँ से माँगते हैं—

"मैया कबहि बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति बल की बेनी, ज्यों ह्वैहै लाँबी-मोटी।
काढ़त-गुहत न्हवावत जैहै।"[6]

यहाँ बालक अपने अनुभव और माता के आश्वासन के बीच तुलना कर रहा है। उसकी शिकायत में भोलेपन के साथ तर्क भी है। उसने दूध पीने की शर्त स्वीकार की थी, इसलिए अब वह उसका अपेक्षित परिणाम चाहता है। साथ ही बलराम की चोटी तुलना का मानदंड बनती है। बच्चों में दूसरे बच्चे से अपने शरीर, वस्तु या उपलब्धि की तुलना करने की प्रवृत्ति को सूर अत्यंत सहज रूप में पकड़ते हैं। यह मनोवैज्ञानिकता किसी अमूर्त विश्लेषण से नहीं, बोलचाल के छोटे संवाद से निर्मित होती है।

बाल-कृष्ण का व्यक्तित्व केवल सुंदरता और निश्छलता तक सीमित नहीं है। सूर उन्हें इच्छाशील बालक के रूप में भी चित्रित करते हैं। वे अपनी माँ के सामने माँग रखते हैं, माँग पूरी न होने पर परिणाम घोषित करते हैं और अपने सीमित संसार में उपलब्ध साधनों से दबाव बनाते हैं। चंद्रमा को खिलौना समझ लेने का प्रसंग इसका सुंदर उदाहरण है—

वर्ष- 1, अंक- 2 (अप्रैल–जून 2026)
ISSN: 3139-5317 (Online), 3139-5325 (Print)

"मैया, मैं तो चंद-खिलौना लैहौं।
जैहौं लोटि धरनि पर अबहीं, तेरी गोद न ऐहौं।
सुरभि कौ पय पान न करिहौं, बेनी सिर न गुहैहौं।"[7]

बालक के लिए इच्छा और वस्तु की वास्तविक उपलब्धता के बीच अंतर गौण है। उसे चंद्रमा सुंदर दिखाई देता है, अतः वह खिलौना हो सकता है। माँ यदि उसे नहीं देती तो बच्चा उन्हीं सुखों को अस्वीकार करने की धमकी देता है जो उसके दैनिक जीवन में महत्त्वपूर्ण हैं—गोद, दूध और बाल सँवारना। इसमें हास्य अवश्य है, किंतु सूर बाल-हठ का उपहास नहीं करते। वे बालक की इच्छा को उसी के अनुभव-जगत के भीतर विश्वसनीय बनाते हैं। कृष्ण का 'मैं' यहाँ स्पष्ट है; वह अपनी माँ से अलग इच्छा रखने वाला स्वतंत्र व्यक्तित्व बन चुका है।

इस पद का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष माँ-बेटे के संवाद की प्रकृति है। माता बच्चे की माँग को कठोर तर्क से नकारने के बजाय उसकी कल्पना के स्तर पर उतरकर उसे समझाती है। बालक और वयस्क के दो अलग संसार यहाँ टकराते नहीं, संवाद करते हैं। इसीलिए सूर का वात्सल्य अधिकारपूर्ण होते हुए भी दमनकारी नहीं लगता। यशोदा कृष्ण को नियंत्रित करती हैं, पर उनकी इच्छाओं को सुनती भी हैं। बालक का हठ घरेलू तनाव पैदा करता है, किंतु वही तनाव अंततः स्नेह और विनोद का स्रोत बन जाता है। भाई-भाई के संबंध में सूरदास बालक की असुरक्षा और शिकायत को भी पहचानते हैं। बलराम द्वारा चिढ़ाए जाने पर कृष्ण माँ के पास आते हैं—

"मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो।
मोसों कहत मोल कौ लीन्हों, तू जसुमति कब जायो?"[8]

बलराम की छेड़छाड़ सीधे कृष्ण की पारिवारिक पहचान पर चोट करती है—क्या वे सचमुच यशोदा के पुत्र हैं या कहीं से मोल लिए गए हैं? एक छोटे बच्चे के लिए माता से अपना जैविक और भावात्मक संबंध अत्यंत मूलभूत सुरक्षा प्रदान करता है। इसलिए सामान्य भाई की शरारत भी उसके लिए गंभीर प्रश्न बन जाती है। कृष्ण खेल छोड़कर माता से शिकायत करते हैं और आश्वासन चाहते हैं। सूर यहाँ बालक की ईर्ष्या, असुरक्षा, स्वामित्व-बोध और मातृ-आश्रय को एक ही छोटे संवाद में समेट देते हैं।

इस प्रकार सूर का बाल-कृष्ण न तो निरंतर आज्ञाकारी आदर्श बालक है और न केवल शरारतों से मनोरंजन करने वाला पात्र। उसमें विरोधी भाव साथ उपस्थित हैं—वह निर्भर भी है और अपनी इच्छा पर अड़ा भी रहता है; भोला है किंतु अपनी बात सिद्ध करने के लिए तर्क भी खोजता है; बलराम से प्रेम करता है पर उनसे तुलना और शिकायत भी करता है। यही अपूर्णता उसे सजीव बनाती है। बालकृष्ण की प्रसिद्धि का एक कारण यही है कि पाठक उसमें असंभव देव-चरित्र से अधिक परिचित बाल-व्यवहार पहचान लेता है।

सूरदास के बाल-वर्णन की प्रभावशीलता के पीछे उनकी ब्रजभाषा का बड़ा योगदान है। बालक और माता के संवाद में वे ऐसी शब्दावली ग्रहण करते हैं जो घरेलू बोलचाल से निकट है। 'मैया', 'दाऊ', 'बाबा', 'चोटी', 'गोद', 'दूध' और 'माखन' जैसे शब्द बाल-कृष्ण को पौराणिक दूरी से बाहर निकालते हैं। क्रियाओं की पुनरावृत्ति दृश्य में गति उत्पन्न करती है और अनुप्रास या ध्वनि-साम्य बिना कृत्रिमता के संगीतात्मकता निर्मित करता है। सूर की पद-रचना मूलतः गायनपरक है; इसलिए भाव केवल अर्थ से नहीं, लय और उच्चारण से भी विकसित होता है। बालक की तोतली, शिकायतपूर्ण या हठी मुद्रा को संवाद के माध्यम से प्रस्तुत करने पर उसका प्रभाव और बढ़ जाता है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सूर के इसी वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए लिखा कि "जितने विस्तृत और विशद रूप में

बाल्य-जीवन का चित्रण इन्होंने किया है उतने विस्तृत रूप में और किसी कवि ने नहीं किया।"[9] शुक्ल का यह मूल्यांकन सूर के बाल-वर्णन की व्यापकता की ओर संकेत करता है, किंतु उसका वास्तविक महत्त्व केवल प्रसंगों की संख्या में नहीं है। अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि शैशव से आगे बढ़ते बालक की अलग-अलग मानसिक अवस्थाएँ उनके यहाँ भिन्न व्यवहारों में प्रकट होती हैं। पालने का शिशु, प्रतिबिंब पकड़ता बच्चा और माँ से अपनी चोटी का हिसाब माँगने वाला कृष्ण मनोवैज्ञानिक रूप से एक ही स्तर पर नहीं हैं। सूर इस परिवर्तन को क्रमशः अनुभव कराते हैं।

हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी यशोदा के माध्यम से उभरे मातृत्व की स्वाभाविकता की ओर संकेत करते हुए कहा है कि "यशोदा के बहाने सूरदास ने मातृ-हृदय का ऐसा स्वाभाविक, सरल और हृदयग्राही चित्र खींचा है कि आश्चर्य होता है।"[10] यह टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सूर के बाल-कृष्ण का पूर्ण अर्थ यशोदा से अलग करके नहीं समझा जा सकता। कृष्ण की अधिकांश बाल-चेष्टाएँ माता की दृष्टि, प्रतिक्रिया और संवाद से अर्थ ग्रहण करती हैं। इसलिए यह काव्य जितना बालक का चित्रण है उतना ही मातृत्व की संवेदना का भी। बालक के चलने, बोलने या हँसने का आनंद यशोदा की आँखों से देखते हुए पाठक स्वयं उस वात्सल्य संसार में प्रवेश करता है।

फिर भी सूर के बाल-वर्णन का मूल्यांकन केवल प्रशंसात्मक ढंग से करना पर्याप्त नहीं होगा। उनका ब्रज-संसार मूलतः भावात्मक और आदर्शीकृत है। परिवार, ग्रामीण समुदाय और घरेलू जीवन के भीतर उपस्थित आर्थिक कठिनाइयाँ, सामाजिक विषमताएँ तथा अन्य प्रकार के तनाव इस वात्सल्य संसार के केंद्र में नहीं आते। ऐसा इसलिए भी है कि सूर का उद्देश्य सामाजिक यथार्थ का सर्वांगीण दस्तावेज तैयार करना नहीं, कृष्ण-लीला के माध्यम से भक्ति और प्रेम को अनुभव कराना है। अतः उनके बाल-चित्रों को आधुनिक सामाजिक यथार्थवाद की कसौटी पर रखकर उनकी कमी निकालना ऐतिहासिक रूप से उचित नहीं होगा; फिर भी यह स्वीकार करना आवश्यक है कि उनका बाल-संसार सामान्य बचपन का संपूर्ण सामाजिक प्रतिनिधित्व नहीं करता।

दूसरी सीमा कृष्ण की असाधारण पहचान से उत्पन्न होती है। पाठक जानता है कि यह साधारण बालक नहीं, आराध्य ईश्वर है। इसलिए उसकी प्रत्येक चेष्टा पहले से ही सौंदर्य और पवित्रता की आभा से घिरी हुई है। वास्तविक जीवन के बच्चे की अप्रिय, अव्यवस्थित या कठिन चेष्टाएँ जिस प्रकार परिवार के भीतर तनाव पैदा कर सकती हैं, सूर के यहाँ वही व्यवहार अंततः रस और आनंद में परिवर्तित हो जाता है। इस आदर्शीकरण के बावजूद उनकी उपलब्धि कम नहीं होती, क्योंकि बाल-मनोविज्ञान की जिन मूल प्रवृत्तियों—जिज्ञासा, स्पर्धा, हठ, अनुकरण, शिकायत, आत्मीयता और मातृ-आश्रय—को उन्होंने पहचाना है, वे धार्मिक संदर्भ से बाहर भी सहज रूप से समझी जा सकती हैं।

यही कारण है कि बाल-कृष्ण के पद आज भी केवल भक्तिपरक पाठ के रूप में प्रासंगिक नहीं हैं। वे यह दिखाते हैं कि बच्चे को समझने के लिए उसके छोटे व्यवहारों को गंभीरता से देखना आवश्यक है। बालक के लिए चंद्रमा माँगना, भाई की बात पर आहत हो जाना या अपनी चोटी की तुलना करना तुच्छ अनुभव नहीं हैं; वे उसकी उस समय की पूरी भावनात्मक दुनिया हो सकते हैं। सूरदास की काव्य-दृष्टि उस दुनिया का उपहास करने के बजाय उसमें प्रवेश करती है। यही मानवीय सहानुभूति उनके बाल-वर्णन को कालातीत बनाती है।

निष्कर्ष

सूरदास के काव्य में बाल-कृष्ण का चित्रण भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य की धार्मिक आस्था और मानवीय अनुभव का अत्यंत सघन संगम है। कृष्ण का देवत्व यहाँ समाप्त नहीं होता, किंतु वह ऐसी निकटता ग्रहण कर लेता है जिसमें पाठक उन्हें पालने में झूलते, धूल में घुटनों चलते, माँ का हाथ पकड़कर कदम रखते, अपने प्रतिबिंब के पीछे दौड़ते

और भाई की शिकायत करते हुए देख सकता है। इस प्रक्रिया में ईश्वर की महिमा दूरी उत्पन्न करने के बजाय आत्मीयता में बदल जाती है। सूर की बड़ी उपलब्धि बाल-चेष्टाओं की अधिक संख्या प्रस्तुत करना मात्र नहीं, उनके भीतर बदलती मानसिक अवस्थाओं को पहचानना है। शिशु की निर्भरता, बालक की जिज्ञासा, तुलना से उत्पन्न स्पर्धा, इच्छापूर्ति का हठ और पारिवारिक संबंधों को लेकर असुरक्षा अलग-अलग प्रसंगों में स्वाभाविक रूप से व्यक्त हुए हैं। यशोदा की दृष्टि इन अनुभवों को वात्सल्य की भावभूमि देती है, जबकि ब्रजभाषा का घरेलू मुहावरा उन्हें जीवंतता प्रदान करता है। यह भी स्पष्ट है कि सूर का बाल-संसार संपूर्ण सामाजिक यथार्थ का प्रतिनिधित्व नहीं करता; वह कृष्ण-केंद्रित, भावात्मक और अनेक स्तरों पर आदर्शीकृत संसार है। फिर भी यही सीमित संसार माता और बच्चे के संबंध की ऐसी मूल मानवीय संवेदना को पकड़ता है जो अपने धार्मिक संदर्भ से आगे बढ़ जाती है। इसीलिए सूरदास के बाल-कृष्ण भारतीय काव्य-परंपरा में केवल आराध्य बाल-देवता नहीं, बाल-स्वभाव के अत्यंत विश्वसनीय और स्मरणीय साहित्यिक चरित्र के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं।

संदर्भ सूची

1. सूरदास, सूरसागर, संपादक नंददुलारे वाजपेयी, काशी, नागरीप्रचारिणी सभा, पंचम संस्करण, संवत् 2035, पृ.694
2. वही, पृ. 694
3. वही, पृ. 717
4. वही, पृ. 728
5. वही, पृ. 733
6. वही, पृ. 793
7. वही, पृ. 811
8. वही, पृ. 833
9. शुक्ल, रामचंद्र, भ्रमरगीत-सार, संपादक रामचंद्र शुक्ल, उपसंपादक विश्वनाथप्रसाद मिश्र, काशी, साहित्य-सेवा-सदन, संवत् 1982, पृ.
10. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, सूर-साहित्य, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 2017, पृ. 129